

# दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में प्रतिपादित श्रमणाचार

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन

प्रस्तुत आलेख में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निग्रह, षडावश्यक, केशलोच, आचेलक्य आदि अष्टाईस मूल गुणों का दिगम्बराचार्य वट्टकेर के ग्रन्थ मूलाचार के आधार पर सारगर्भित निरूपण किया गया है तथा द्वादश तप, बाईस परीषह आदि उत्तरगुणों का उल्लेख करते आहार-विहार का भी निरूपण किया गया है। इस आलेख को पढ़कर विदित होता है कि श्वेताम्बर श्रमणाचार से दिगम्बर श्रमणचार में कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर प्रायः साम्य है।

-सम्पादक

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण या आर्हत-संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैन धर्म के आदिदेव तीर्थंकर वृषभ या ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जैन धर्म के अन्य नामों में आर्हत तथा श्रमणधर्म प्रमुख रूप में प्रचलित है। इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषताएँ हैं- (1) उपशान्त रहना, (2) चित्तवृत्ति की चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, समभाव पूर्वक स्व-पर कल्याण करना। इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण-संस्कृति कहा जाता है।

यह पुरुषार्थमूलक है। इसकी चिन्तन धारा मूलतः आध्यात्मिक है। अध्यात्म के धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण-संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख स्वातंत्र्य में ही सम्भव है। कर्मबन्धन युक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता। वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

निःश्रेयस की प्राप्ति रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर सम्भव है। सम्यक्-दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में इस रत्नत्रय मार्ग का निर्माण करते हैं। प्राचीन काल से लेकर श्रमणधारा के

प्रत्येक साधक ने सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अनुसरण किया और अपनी साधना की उपलब्धियों के अनन्तर इसी मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। इससे जो आचार-संहिता निर्मित हुई, वह श्रमण-परम्परा की एक समग्र 'आचार संहिता' बनी, जिसमें गृहस्थ के जीवन से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की साधना और उसके उपयुक्त आचार-सम्बन्धी नियम-उपनियम आदि का विधान किया गया।

आध्यात्मिक-विकास के लिए आचार की प्रथम सीढ़ी सम्मत्तं, सम्मादिट्ठि या सम्यग्दर्शन है। बिना इसके ज्ञान-विकास नहीं हो सकता और साधना भी सम्यक् नहीं हो सकती। इसलिए श्रावक और श्रमण दोनों के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसके बाद ज्ञान स्वतः विकासोन्मुखी हो जाता है। किन्तु ज्ञान की समग्रता साधना के बिना सम्भव नहीं। इसलिए “णाणस्स सारं आयारो” तथा “चारितं खलु धम्मो” कहकर आचार या चारित्र एवं तपश्चरण को विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। सम्यग्दृष्टि-व्यक्ति आचारमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए क्रमशः श्रावक एवं श्रमण के आचार को स्वीकार करता है अथवा सामर्थ्य के अनुसार श्रमण धर्म स्वीकार कर लेता है। श्रावक और श्रमण के आचार का स्वतंत्र रूप से विस्तृत विवेचन करके जैन मनीषियों ने जीवन के समग्र विकास के लिए स्वतंत्र रूप से आचार संहिताओं का निर्माण कर दिया। विभिन्न युगों में देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल नियमोपनियमों में विकास भी हुआ है तथापि सम्यक्-चारित्र का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त करना ही रहा है।

### श्रमणाचार विषयक साहित्य

भारत की अनेक प्राचीन भाषाओं-अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि में निबद्ध श्रमणाचार विषयक विपुल वाङ्मय उपलब्ध है। जैन परम्परा के अनुसार यह श्रमणधारा प्राचीन काल में ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई और ईसा पूर्व छठी शताब्दी में इसे वर्द्धमान महावीर ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। उनके बाद अनेक महान् आचार्यों द्वारा यह धारा निरन्तर प्रवर्तित होती आ रही है। इन आत्मदर्शियों के गहन चिन्तन-मनन और स्वानुभव से जो विशाल वाङ्मय उद्भूत हुआ, वह आज भी पथप्रदर्शन का कार्य कर रहा है। वस्तुतः तीर्थंकर महावीर से जो ज्ञान-गंगा प्रस्फुटित हुई वह गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं बहुश्रुत श्रमणों के माध्यम से श्रुतज्ञान के रूप में अब तक चली आ रही है। यही श्रुतज्ञान आगम के रूप में विद्यमान है। जैन परम्परा की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों धाराओं में श्रमणाचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य शिवार्यकृत भगवई आराहणा, वट्टकेर कृत मूलाचार, आचार्य कुन्दकुन्द कृत पवयणसार, अट्ठपाहुड और रयणसार, स्वामी कार्तिकेय कृत कल्तिगेयाणुवेक्खा, चामुण्डराय कृत चारित्रसार, वीरनन्दि कृत आचारसार, देवसेनसूरि कृत आराधनासार एवं भावसंग्रह, पं. आशाधर कृत अनगारधर्माभूत, सकलकीर्तिकृत मूलाचार प्रदीपक आदि श्रमणाचार विषयक प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में आयारंग, सूर्यगङ्ग, आउरपच्चक्खाण, मरणसमाही, निसीह,

ववहार, उत्तरज्झयण, दसवेयालिय, आवस्सय, आवस्सयणिज्जुत्ति आदि ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड तथा मराठी आदि भाषाओं में रचित श्रमणाचार विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

### श्रमणों की आचार-संहिता

आचार शब्द के तीन अर्थ हैं - आचरण, व्यवहार और आसेवन। सामान्यतः सिद्धांतों, आदर्शों और विधि-विधानों का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहा जाता है। सभी जैन तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के अनेकानेक श्रमणों ने स्वयं आचार की साधना द्वारा भव-भ्रमण के दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पायी, साथ ही मुमुक्षु जीवों को दुःख निवृत्ति का सच्चा मार्ग बताया। श्रमण होने का इच्छुक सर्वप्रथम बंधुवर्ग से पूछता और विदा मांगता है। तब बड़ों से, पुत्र तथा स्त्री से विमुक्त होकर, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों को अंगीकार करता है।<sup>1</sup> और सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त अपरिग्रही बनकर, स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्याग कर आचार्य द्वारा 'यथाजात' (नग्न) रूप धारण कर जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है।<sup>2</sup> मुनि के लिए श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षा के बाद निर्धारित वस्त्र-पात्र आदि का विधान है। जिन मूलगुणों को धारण कर साधक श्रमणधर्म (आचार मार्ग) स्वीकार करता है उनका विवेचन आगे प्रस्तुत है।

### मूलगुण

श्रमणाचार का प्रारम्भ मूलगुणों से होता है। आध्यात्मिक विकास द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन गुणों को धारण करके जीवन पर्यन्त पूर्ण निष्ठा से पालन करने का संकल्प ग्रहण करता है, उन गुणों को मूलगुण कहा जाता है। वृक्ष की मूल (जड़ या बीज) की तरह ये गुण भी श्रमणाचार के लिये मूलाधार हैं। इसीलिए श्रमणों के प्रमुख या प्रधान आचरण होने से इनकी मूलगुण संज्ञा है। इन मूलगुणों की निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है -

“पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्धिट्ठा।

पंचेदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥

अच्चेल्लकमण्हाणं खिदिसयणमदंतधंसणं चेव।

ठिदिभेयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥<sup>3</sup>

1. पाँच महाव्रत : हिंसा, विरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)।<sup>4</sup>
2. पाँच समिति : ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका।<sup>5</sup>
3. पाँच इन्द्रियनिग्रह : चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श-इन पाँच इन्द्रियों का निग्रह।<sup>6</sup>

4. छह आवश्यक : समता (सामायिक), स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग (कायोत्सर्ग)।<sup>7</sup>
5. सात अन्य मूलगुण : लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्ता।

उपर्युक्त मूलगुण श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें लेशमात्र भी न्यूनता साधक का श्रमणधर्म से च्युत बना देती है, क्योंकि श्रमण के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर होता है। शरीर चला जाए, यह उसे सहर्ष स्वीकार होता है, पर साधना या संयमाचरण में जरा भी आँच आये, यह किसी भी अवस्था में उसे स्वीकार्य नहीं। जीवन के जिस क्षण मुमुक्षु श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, उस क्षण वे “सावज्जकरणजोगं सव्वं तिविहेण तिरयणविसुद्धं वज्जंति”<sup>8</sup> अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (दोष युक्त) क्रिया रूप योगों का मन, वचन, काय तथा करने, कराने और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं। मूलगुणों के पालन की इसलिए भी महत्ता है, क्योंकि जो श्रमण इन मूलगुणों को छेदकर (उल्लंघन कर) ‘वृक्षमूल’ आदि बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं। मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं होता।<sup>9</sup>

### (1-5) महाव्रत

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों में सर्वप्रथम पंच महाव्रत का उल्लेख है। व्रत से तात्पर्य है - हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह - इन पाँच पापों से विरति (निवृत्ति) होना।<sup>10</sup> विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना।<sup>11</sup> प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है - इस प्रकार नियम करना भी व्रत है।<sup>12</sup> इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग का इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति - ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसादिक पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है, किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत और सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते। ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहाँ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - इन पाँच व्रतों के समग्र पालन की क्षमता में अपने को पूर्ण समर्थ नहीं पाता अथवा महाव्रतों के धारण की क्षमता लाने हेतु अभ्यास की दृष्टि से इनका एकदेश पालन करता है, तो उसके ये व्रत अणुव्रत तथा वह अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) कहलाता है तथा मुमुक्षु साधक अपने आत्मबल से इन व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में समग्र रूप में पूर्ण समर्थ हो जाता है, तब उसके वही व्रत महाव्रत कहे जाते हैं तथा वह महाव्रती श्रमण, मुनि या अनगर कहलाता है।

### (6-10) समिति

श्रमण के मूलगुणों में महाव्रतों के बाद चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति हेतु ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान एवं प्रतिष्ठापनिका-इन पाँच समितियों का क्रम है।<sup>13</sup> महाव्रतमूलक सम्पूर्ण श्रमणाचार का व्यवहार इनके द्वारा संचालित होता है। इन्हीं के आधार पर महाव्रतों का निर्विघ्न पालन सम्भव है। क्योंकि ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियाँ हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों के रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, आहार ग्रहण, वस्तुओं के उठाने-रखने, मलमूत्र-विसर्जन आदि क्रियाओं में प्रमादरहित सम्यक् प्रवृत्ति के द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा सदा उनके रक्षण की भावना रखना समिति है। जीवों से भरे इस संसार में समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला श्रमण हिंसा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे स्नेहगुण युक्त कमलपत्र पानी से।<sup>14</sup> प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है - जीव मरे या जीये, अयत्नाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है उसको बाह्य हिंसा मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता।<sup>15</sup> वस्तुतः ये पाँचों समितियाँ चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्तिपरक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है।

### (11-15) इन्द्रिय निग्रह

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिह्न अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ-(पदार्थ) ज्ञान में निमित्त बने उसे इन्द्रिय कहते हैं।<sup>16</sup> प्रत्यक्ष में जो अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करती हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।<sup>17</sup> इन्द्रियाँ पाँच हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श। ये पाँचों इन्द्रिय अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति कराके आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। अतः इनको विषय-प्रवृत्ति की ओर से रोकना इन्द्रिय निग्रह है।<sup>18</sup> ये पाँचो इन्द्रियाँ अपने नामों के अनुसार अपने नियत विषयों में प्रवृत्त करती हैं। स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है।<sup>19</sup> इन्द्रियों के इन विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- (1) काम रूप विषय।
- (2) भोग रूप विषय।

रस और स्पर्श कामरूप विषय हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग रूप विषय हैं।<sup>20</sup> इन्हीं इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह कहलाता है।<sup>21</sup> अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति से रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।<sup>22</sup> जैसे उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ों के लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है।<sup>23</sup> जो श्रमण जल से भिन्न कमल के सदृश इन्द्रिय-विषयों की प्रवृत्ति में लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से

मुक्त हो जाता है।<sup>24</sup>

इस तरह इन्द्रियों के शब्दादि जितने विषय हैं सभी में अनासक्त रहना अथवा मन में उन विषयों के प्रति मनोज्ञता-अमनोज्ञता उत्पन्न न करना श्रमण का कर्तव्य है। वस्तुतः इन्द्रिय-निग्रह का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों की ग्रहण-शक्ति समाप्त कर दें या रोक दें, अपितु मन में इन्द्रिय-विषयों के प्रति उत्पन्न राग-द्वेष युक्त भाव का नियमन करना इन्द्रिय-निग्रह है। कहा भी है जैसे कछुआ संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, वैसे ही श्रमण को भी संयम द्वारा इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का संयमन कर लेना चाहिए।<sup>25</sup> क्योंकि जिसकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्त्व रूपी अमृत कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की शक्ति को आत्मतत्त्व रूपी अमृत के दर्शन में लगा देता है वह सच्चे अर्थोंमें अमृतमय इन्द्रियजयी बन जाता है।

### (16-21) षड्-आवश्यक

सामान्यतः 'अवश' का अर्थ अकाम, अनिच्छुक, स्वाधीन, स्वतंत्र,<sup>26</sup> रागद्वेषादि से रहित, इन्द्रियों की अधीनता से रहित होता है। तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्य करणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचारकार के अनुसार जो रागद्वेषादि के वश में नहीं उस (अवश) का आचरण या कर्म आवश्यक है।<sup>27</sup> कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में कहा है - जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश, उस अवश का कार्य आवश्यक है। ऐसा आवश्यक कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग होता है।<sup>28</sup> अनगारधर्मावृत्त में आवश्यक शब्द की दो तरह से निरुक्ति बताई गयी है-जो इन्द्रियों के वश्य (अधीन) नहीं है, ऐसे अवश्य-जितेन्द्रिय साधु का अहोरात्रिक अवश्यकरणीय कार्य आवश्यक है। अथवा जो वश्य-स्वाधीन नहीं है, अर्थात् रोगादिक से पीड़ित होने पर भी जिन (कार्यों) का अहोरात्रिक करना अनिवार्य हो वह आवश्यक है।<sup>29</sup> अनुयोगद्वारा सूत्र में कहा है कि श्रमण और श्रावक जिस विधि को अहर्निश अवश्यकरणीय समझते हैं उसे आवश्यक कहते हैं।<sup>30</sup> विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार अवश्य करने योग्य सद्गुणों का आधार आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के आधीन करने वाला, आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करने वाला आवश्यक कहलाता है। आवश्यक छह प्रकार के हैं - 1. समता (सामायिक), 2. स्तव (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव), 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण-प्रमादपूर्वक किये गये दोषों का निराकरण, 5. प्रत्याख्यान भावी दोषों का निराकरण तथा 6. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)।<sup>31</sup> आगमों में इनका विवेचन नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन छह के आलम्बन से किया जाता है।

### शेष सात मूलगुण-

इस तरह श्रमण के 15 मूलगुणों में से पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिग्रह तथा छह आवश्यक - इन सबको मिलाकर इक्कीस मूलगुणों के साथ ही शेष सात मूलगुण इस प्रकार हैं -

### (22) लोच

श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में लोच बाईसवाँ मूलगुण है। जिसका अर्थ है हाथ से नोंचकर केश निकालना। लोक प्रचलित अर्थ में इसे ही केशलुंचन कहते हैं। वस्तुतः लोच शब्द लुंच धातु से बनकर अपनयन अर्थात् निकालना या दूर करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। केशलोच अपने आप में कष्ट-सहिष्णुता की उच्च कसौटी के और श्रमणों के पूर्ण संयमी जीवन का प्रतीक है। चूँकि केशों का बढ़ना स्वाभाविक है, किन्तु नाई के द्वारा या उस्तरे, कैची आदि के बिना मात्र हाथों से ही उन्हें उखाड़कर निकालना श्रमण के स्ववीर्य, श्रामण्य तथा पूर्ण अपरिग्रही होने का प्रतीक है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्व का निराकरण तथा सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण होता है। दीनता, याचना, परिग्रह और अपमान आदि दोषों के प्रसंगों से भी स्वतः बचा जा सकता है।<sup>32</sup> सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया था।

### (23) अचेलकत्व

सामान्यतः 'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में यह शब्द सम्पूर्ण परिग्रहों का उपलक्षण है। अतः चेल के परिहार से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है।<sup>33</sup> इस दृष्टि से वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रहों का त्याग और स्वाभाविक यथाजात नग्न (निर्ग्रन्थ) वेश धारण करना अचेलकत्व है।<sup>34</sup> किन्तु श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार इसका अर्थ अल्प चेल (वस्त्र) मुनि का वेष है, अतः साधु निर्धारित वस्त्र धारण करते और पात्र रखते हैं।

### (24) अस्नान

जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन का त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर इन सबके संस्कार का त्याग अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है।<sup>35</sup> वस्तुतः आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं, अतः उन्हें बाह्य स्नान से प्रयोजन ही क्या ?<sup>36</sup> आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार-वृत्ति में कहा है कि श्रमण को स्नान से नहीं, अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रतरहित प्राणी जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जल-जन्तु तथा अन्य सामान्य प्राणी भी पवित्र हो जाते, किन्तु ये कभी भी उससे पवित्रता को प्राप्त नहीं होते हैं। अतः व्रत, संयम-नियम ही पवित्रता के कारण हैं।<sup>37</sup> इन्हीं सब कारणों से श्रमण को स्नान आदि संस्कारों से सर्वथा विरत रहने तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति में उपयोग लगाए रखने के लिए अस्नान मूलगुण का विधान अनिवार्य माना गया है।

### (25) क्षितिशयन

सामान्यतः पर्यङ्क, विस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध (प्रासुक) जमीन/पाषाण या काष्ठफलक पर शयन करना क्षितिशयन है। मूलाचार में कहा है - आत्मप्रमाण, असंस्तरित, एकान्त, प्रासुक भूमि में, धनुर्दण्डाकार मुद्रा में, एक करवट में शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।<sup>38</sup>

**(26) अदन्तघर्षण**

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को निषिद्ध कहे गये हैं। अतः अंगुली, नख दातौन, कलि (तृणविशेष), पत्थर और छाल - इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दाँतों का मज्जन न करना अदन्तघर्षण मूलगुण है।<sup>39</sup> इसका उद्देश्य इन्द्रिय-संयम का पालन तथा शरीर के प्रति अनासक्ति में वृद्धि करना है।

**(27) स्थित-भोजन**

शुद्ध-भूमि में दीवाल, स्तम्भादि के आश्रयरहित समपाद खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण करना स्थित-भोजन है।<sup>40</sup> प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है, तब तक खड़े होकर पाणि-पात्र में आहार ग्रहण करना चाहिए, अन्य विशेष पात्रों में नहीं।<sup>41</sup>

**(28) एकभक्त**

सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने के बाद तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक बेला में आहार ग्रहण कर लेना एकभक्त मूलगुण है।<sup>42</sup>

**उपसंहार**

लोच से लेकर एकभक्त तक के सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिह्न माने जाते हैं। अन्तरंग कषाय मल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाओं (आचरण) की शुद्धता का भी महत्वपूर्ण स्थान है।<sup>43</sup> अतः ये गुण जीवन की सहजता, स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने के लिए ये महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। बाह्य जीवन में असुन्दर की भी सर्वात्मभावेन स्वीकृति इनसे सधती है। इन गुणों से युक्त जीवन भी अपने आप में उत्कृष्ट एवं कठिन तपश्चर्या का प्रतीक है। इनके माध्यम से कष्टसहिष्णुता, चरित्र पालन, गतिशीलता प्राप्त होती रहती है। इन गुणों से श्रमण को प्रतिपल भेद-विज्ञान की यह प्रतीति होती रहती है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है और इसे सुविधावादिता की अपेक्षा जितना सहज रखा जायेगा, आत्मोपबन्धि में उतनी ही वृद्धि होती रहेगी।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से श्रमण की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित हो जाती हैं। इनका अप्रमत्त भाव से पालन करके श्रमण जगत्पूज्य होकर अक्षय-सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। मूलाचारप्रदीप में कहा है - ये सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि महायोगों का आधारभूत कहा है। समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिए ये गुण मूल रूप हैं। जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कभी फल नहीं लग सकते, उसी प्रकार मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण भी कभी फल नहीं दे सकते। फिर भी



उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए जो मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए अपना मस्तक काट देते हैं। अतः इन समस्त मूलगुणों का पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा पालन करना अभीष्ट है।<sup>44</sup> जब इन मूलगुणों के पालन में शरीर अशक्त हो जाए अर्थात् जब जंघाबल (पैरों से चलने-फिरने और खड़े होने आदि की शक्ति) क्षीण हो जाए, अंजुलिपुट में आये हुए आहार को स्वयं मुख तक न ले जा सके, आँखें कमजोर हो जाए, तब श्रमण को भक्तप्रत्याख्यान (अनुक्रम से आहार त्याग करना तथा कषाय को कृश करते हुए समाधिभ्रमण को प्राप्त होना) धारण कर लेना चाहिए, किन्तु ग्रहण किए हुए व्रतों में शिथिलता कदापि नहीं लानी चाहिए।<sup>45</sup>

### उत्तरगुण

श्रमण के जिन अट्ठाईस मूलगुणों का विवेचन ऊपर किया गया है उनके उत्तरवर्ती पालन योग्य बारह तप, बाईस परीषह, बारह भावनाएँ, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और बल - ये पाँच आचार, उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य - ये दस धर्म तथा योगादि अनेक गुण हैं, जिन्हें उत्तरगुण कहते हैं। इनके माध्यम से श्रमण आत्मध्यान और तपश्चरण करके आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करता है तथा गुणस्थान प्रणाली में कर्मक्षय करता हुआ निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

### आहार, विहार और व्यवहार

एक ओर जहाँ मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पूर्ण श्रामण्य की कसौटी बनकर उनकी संयम-यात्रा के लक्ष्य को प्राप्त कराने में अपना महत्वपूर्ण योग करते हैं, वहीं आहार, विहार और व्यवहार ये चर्याएँ उनके बाह्य जीवन, सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं अन्यान्य उन सभी कार्यों को विशुद्धता एवं समग्रता प्रदान करती हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आत्मोत्कर्ष में सहयोग तथा सच्चे श्रामण्य की पहचान से है। देश, काल, श्रम, क्षम (सहन शक्ति) और उपधि (शरीरादि रूप परिग्रह) को अच्छी तरह जानकर श्रमण आहार एवं विहार में प्रवृत्त होता है। यद्यपि इसमें भी उसे अल्प-कर्मबंध होता है।<sup>46</sup> किन्तु इतना अवश्य है कि श्रमण चाहे बालक हो अथवा वृद्ध अथवा तपस्या या मार्ग (पैदल आवागमन) के श्रम से खिन्न (थका हुआ), अथवा रोगादि से पीड़ित, वह अपने योग्य उस प्रकार की चर्या का आचरण कर सकता है, जिसमें 'मूल संयम' का घात (हानि) न हो।<sup>47</sup> इसीलिये इस लोक से निरपेक्ष, परलोक की आकांक्षा एवं आन्तरिक कषाय से रहित होकर 'युक्त-आहार-विहार' होना चाहिए।<sup>48</sup> क्योंकि श्रमण का चारित्र, तपश्चरण एवं संयम आदि का अच्छी तरह से पालन उसकी आहार-चर्या की विशुद्धता पर निर्भर है। इसी तरह समितिपूर्वक विशुद्ध विहारचर्या द्वारा भी वह श्रमण रत्नत्रय प्राप्ति का अभ्यास, शास्त्रकौशल एवं समाधिभ्रमण के योग्य क्षेत्र तथा जन-जन के कल्याण की भावना रूप लक्ष्य को सहज ही प्राप्त कर लेता है तथा आहार-विहार एवं बाह्य जीवन के विविध व्यवहार-कार्यों या क्रियाओं में विवेक रखकर स्व-पर कल्याण में सदा प्रवृत्त बना रहता है।

विहार-चर्या के अन्तर्गत जहाँ श्रमणों के लिए अनियत विहार की विवक्षा की गयी है, वहीं उनके

एकाकी विहार की घोर निन्दा भी की गयी है। इसमें मुख्य दृष्टि यही रही है कि एकाकी विहार में संयम की विराधना सतत बनी रहती है। जबकि ससंघ अथवा दो से अधिक श्रमणों के साथ विहार करने में ऐसी सम्भावना नहीं रहती। वस्तुतः संयम पालन में परस्पर के आदर्शों और प्रेरणाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे श्रमण अनेक दोषों से स्वाभाविक रूप में बचा रहता है। इसी दृष्टि से एकाकी विहार का निषेध किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण का पर्याय यूँ तो आत्म-कल्याण के लिए ग्रहण किया जाता है, परन्तु श्रमण के पर्याय में जाते ही उसके स्वार्थ तिरोहित हो जाते हैं और वह अपनी सारी वैयक्तिकता को विश्राम दे देता है, तब जागती है उसकी निर्वैयक्तिकता। यही वह तथ्य है, जो उसे अन्य सब स्थितियों से उठाकर सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में प्रवृत्त करता है। उसकी एक-एक क्रिया उस समय अति महत्वपूर्ण हो जाती है और वह जगत् का उपकर्ता हो जाता है।

वस्तुतः मनुष्य की श्रेष्ठता दीर्घ आयुष्य के कारण नहीं, अपितु उसे प्राप्त हुई मानवता के कारण है और वह मानवता जीवन की शुद्धि पर अवलम्बित है। चित्त की निर्मलता, कर्मों की परिशुद्धि, सद्गुणों की पूर्णता, सदैव सजगता, विवेक की सूक्ष्मता आदि आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ने के साधन हैं और इन्हीं से श्रेष्ठ मानवता प्राप्त होती है।

धर्म और उसके आचार का वह स्वरूप श्रेष्ठ है, जो मानवीय दृष्टिकोण को सबसे ज्यादा अहमियत देता है और जिसमें प्रत्येक मानव के लिये उसकी खोज की जाती है। 'धर्म' को विश्व-धर्म के रूप में अभिषिक्त करने के लिए जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता एवं संयमी जीवन को प्रधानता दे। जैन आचार में वे सब विशिष्टताएँ हैं जिन्हें विश्व का प्रत्येक व्यक्ति अपना सकता है तथा उससे वह इस जीवन के परम लक्ष्य को पा सकता है।

वर्तमान में अनेक अनुकूलताओं, विषमताओं के बीच अपने नैतिक, संयमी एवं आदर्श जीवन द्वारा राष्ट्र एवं समाज को मर्यादित तथा नैतिक बनाने में साधु संस्था (श्रमणसंघ) महत्वपूर्ण योगदान देती है। ये समाज से सिर्फ आहार मात्र लेकर समाज के नैतिक आदर्शों को जीवित रखते हैं। यदि हम परस्पर प्रेम, स्नेह और सद्भावना के प्रतीक-रूप समाज की कल्पना करते हैं, हमारे बच्चों और भावी पीढ़ी में संस्कार चाहते हैं तो इन उच्चादर्शों के पालन करने वाले साधुओं के आदर्श और महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा।

-अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

